संपादकीय

बेग़मपुरा संघर्ष की ऊर्जा

भौतिक बुद्धिवाद में मुक्ति का मार्ग

शीलबोधि

विचार जब विचारधारा तक अपना विकास कर लेता है, तब वह अपने किस्म की अलग ही दुनिया बसाता है। समस्या के निदान से जुड़ी सहमति व असहमति के द्वंद्व के बीच इंसानों की जज्बाती दुनिया को विचारधारा आमूल-चूल बदल देती है। इंसान का सामाजिक ही नहीं राजनीतिक व आर्थिक क्रिया-कलाप तक विचारधारा के अधीन वैसी ही चाल चलता है, जैसा विचारधारा का इशारा होता है। विचारधारा से ही इंसानी दिलो-दिमाग स्वाधीनता का लाभ लेता है। विचारधारा से ही दिलो-दिमाग को पराधीन कर इंसानों को दुखद मानसिक व शारीरिक गुलामी में धकेला जाता है। भारत में विचारधारा के दो स्रोत हैं, एक भौतिक बुद्धिवादी विचारधारा जिसका उद्भव भारत में ही हुआ और दूसरा ईश्वरवाद जिसका उद्गम भारत से बाहर हुआ है। भौतिक बुद्धिवादी भारत की मूल विचारधारा का हम यहां 'बेग़मपुरा:सभ्यता का आह्वान' द्विमासिक पत्रिका के रूप में मंच तैयार कर रहे हैं, जिसपर आपको सादर आमंत्रित करते हैं। संसाधनों का अभाव है, साथ ही तकनीक का इस्तेमाल से इसे हल करते हुए हम ई-पत्रिका के रूप में आपके मोबाइल, टेबलेट, लेपटॉप और डेस्कटॉप पर हाजिर होने के लिए तैयार है। इस द्विमासिक पत्रिका में आपको अपना स्वाभाविक और साझा भागीदार मानते हुए अपनी सोच, समझ और लक्ष्य से जुड़ी बातें साझा करते हुए हमें प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

बेग़मपुरा शब्द क्यों चुना

पत्रिका निकालने के निर्णय के साथ यह भी निर्णय करना था कि पत्रिका का नाम क्या रखा जाए। यह काम शुरू में सरल लग रहा था, बाद में जटिल बन गया। नाम भर रखने का मामला नहीं था बल्कि ऐसा नाम रखने का मामला था, जो हमारी विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर सके और साथ ही आगे के संघर्ष के लिए हमें ऊर्जावान बनाए रख सके। विभिन्न शब्दों के बीच से बेग़मपुरा शब्द सामने आया। बेगम शब्द इस दौर में एक प्रचलित शब्द है, यह मुस्लिम विवाहित महिला के लिए प्रयोग किया जाता है। यह समझा जाएगा कि 'बेगमपुरा' में हम मुस्लिम विवाहित महिलाओं के नगर की बात करना चाह रहे हैं। शब्दकोश से पता चला कि मुस्लिम विवाहित महिलाओं के लिए 'बेगम' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसमें 'ग' के नीचे नुक्ता नहीं लगाया जाता है, 'बेग़म' शब्द में 'ग़' के नीचे नुक्ता लगा होने के कारण 'बेगम' और 'बेग़म' दो भिन्न शब्द हो गए। नुक्ते वाले 'बेग़म' का अर्थ 'बिना गम का' और 'बेग़मपुरा' का मतलब हुआ 'बिना

गम का शहर'। हमने 'बेग़मपुरा' यानी बिना ग़म के शहर को अपना उद्देश्य बनाना पसंद किया जो बहुमत से पास हो गया। 'बेग़मपुरा' की अवधारणा पर रैदास व कबीर जैसे संतों की गहरी छाप थी, वास्तव में बेग़म जीवन शैली पर मूलभारतीय चिंतन ने लगातार बात की है, दुख मुक्त जीवन के लिए शब्द बेशक समय-समय पर बदल गए लेकिन चिंता नहीं।

बेग़मपुरा की सोच क्या है

दुखी जीवन का कारण अविद्या है और दुखमुक्त जीवन का उपाय विद्या है। ऐसे दुख जिसका कारण 'मनुष्य का व्यवहार' है, उनके अन्तर्निहित भी अविद्या ही है। समण व संत परंपरा ने 'यथार्थ' का ज्ञान न होने को अविद्या कहा है और इसे दुख का सबसे बड़ा कारण बताया है। अविद्या को दूर करने के लिए वे 'खुद' को जानने से शुरुआत करने का अनुशासन देते हैं। संतों ने 'खुद' अथवा 'स्वयं' शब्द को 'आपा' कहा है, और कहा है कि 'आपा' को वैसा ही जानो जैसा वह है अर्थात मनुष्य का आपा उसका शरीर है, इसलिए शरीर को शरीर के रूप में जानो। दिखाई देने वाले अंग आंख, नाक, कान, हाथ, पैर हैं और चमडी के नीचे ढके अंग दिल, दिमाग, आंत, फेफड़े, लीवर, किडनी आदि हैं। जैसे शरीर ऊपर दिये अंगों का समुच्चय है वैसे ही शरीर के अंग भी विभिन्न तत्त्वों के मेल से बने हैं। वास्तव में जिसे 'आपा' कहा जाता है वह अनंत तत्त्वों का समुच्चय ही है, संतों ने सुत्त दियाख़्' *आपा अनंत नहीं मानत, ताते मूल गवाई'* अर्थात हमारा 'आपा' अनंत तत्त्व हैं, नहीं मानते हो, इसलिए तो तुमने मूल ज्ञान गंवा दिया। महापरिनिर्वाण सूत्त में अपनी मृत्यु के समय तथागत बुद्ध भी आनंद को यही ज्ञान देते हैं, कि जो-जो अनंत तत्त्वों के संयोजन से बना है, उसका एक दिन नाश होना ही है। इन अनंत तत्त्वों को चार वर्गों में बांटा गया है, जैसे जल, थल, वायु और ताप। चार्वाक, कपिलमुनी, तथागत बुद्ध और यहां तक कि संत रैदास की बानी में भी अनंत तत्त्वों के यही चार विभाजन मिलते हैं, इनकी संख्या पांच नहीं है। जब तक इन चार पदार्थों के बीच ऐसी अनुपातिक सक्रियता संपन्न नहीं होती जो किसी जीव-जंतु व वनस्पति के उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है तब तक ये चारों पदार्थ पारिस्थितिकी (शून्य) में विलीन रहते हैं यानी निराकार होते हैं। पर्यावरण में परस्पर निर्भरता की अवस्था के कई सारे चक्र मौजूद होते हैं। इन्हें संत साहित्य में 'सकल शून्य' कहा जाता है। जब विशेष कारण से इन चार पदार्थों के बीच होने वाली उचित आनुपातिक सक्रियता होने लगती है, तब जो निराकार है, वह आकार में दिखाई पड़ने लगता है। संतों ने इस संबंध में सुत्त वाक्य दिया है कि *'जल, थल अगन बारू का पूतलो'*। 'पूतलो' आकार को कहा गया है, जल सभी तरह के तरल है, थल पृथ्वी में पायें जाने वाले सभी खनिज हैं, बारू यानी वायु जिसे गैस कहा जाता है तथा अगन का अर्थ ताप से है। इन चार पदार्थो से ही पूतला यानी आकार उत्पन्न होता है। फिर आगे सूत्र देते हैं कि *'जहां का उपजा तहां बिलाई, सकल शून्य में रहा लुकाई'* अर्थात दुनिया में हर जीव, जंतु व वनस्पति हर जगह नहीं पाई जाती है। स्थान विशेष का परिवेश या पर्यावरण में चार पदार्थों की अनुपातिक मात्रा अलग-अलग होती है, उसी वजह से पर्यावरण में उत्पन्न जीव, जंतु व वनस्पति भी अलग-अलग होंगे। संतों ने ऊपर दिए सूत्र में कहा हैख़्' जो जहां उपजता है, वह वहीं घुला-मिला रहता है' जैसे दूध में घी बिला रहता है।

संत साहित्य को पढ़ते समय संतो की बानी ऐसे आभास देती है कि प्रकृति के नियम मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन पर भी लागू होने चाहिए। शरीर के अस्तित्व में हम अनंत तत्त्वों की भूमिका को स्वीकार करते हैं। इसलिए अनंत तत्त्वों की जरूरतों के अनुसार खाते-पीते हैं, प्रकृति खान-पान को अवशोषित करके अनंत तत्त्वों में जरूरत के अनुरूप वितरित कर देती है। यदि खान-पान से प्राप्त पोषक तत्त्वों का शरीर के किसी अंग को उचित भाग नहीं मिलता है, तो वह अंग बीमार हो जाता है, इसी के साथ पूरा शरीर खुद को बीमार महसूस करता है। डॉक्टर, वैद्य व हकीम दवाओं के माध्यम से अंग को उसकी उचित पोषक खुराक पहुंचाते हैं, जिससे अंग विशेष के ठीक हो जाने से शरीर स्वस्थ महसूस करता है।

समाज में जो वस्तु व सेवा उत्पन्न होती है, उसका वितरण समाज के अनंत अंगों के बीच उनकी जरूरत के अनुसार वितरित होना चाहिए। राजनीति वह प्रबन्धक है, जो समाज के सभी अंगों की जरूरत का वितरण करने का प्रबन्ध करती है। समाज के सभी अंगों को उसकी जरूरत की मदों के अनुसार अधिकार व कर्त्तव्यों का वितरण कैसे किया जाए, इसकी व्यवस्था करने के लिए 'एक विचार' की जरूरत होती है, इसकी पूर्ति विचारधारा करती है। विचार या विचारधारा केवल व्यवस्था भर है, जिनके जनक इसके प्रबन्धक होते हैं। वही राजनीति के साथ तालमेल बनाकर अधिकार व कर्त्तव्य के निर्धारण के द्वारा शिक्षा, वेतन, स्वास्थ्य, सुविधा, सुरक्षा आदि मामलों में वितरण करते हैं। वर्तमान समय में ब्राह्मण, ईसाई, इस्लाम, साम्यवाद, उदारवाद, लोकतंत्र, समाजवाद ये सभी विचारधाराएं हैं, जो समाज के विभिन्न अंगों के बीच ऊपर दी गई मदों को वितरण का प्रबन्धन करती है। इनकी या तो खुद की राजनीति होती है या ये मौजूदा राजनीति से तालमेल बनाकर वितरण प्रबन्धन की

व्यवस्था का संचालन करती है।

मनुष्य के जीवन की व्यवस्थाएं जितना प्राकृतिक नियमों से दूर होगी, उतना उनसे दुख उत्पन्न होगा। साधारण जनता को वह विचार जो वितरण व्यवस्था का प्रबन्ध करता है, ऐसा आदर्श या दृष्टि नहीं देता जिससे प्रक्रिया को देखा, जाना व समझा जा सके। डॉक्टर, वैद्य व हकीम के लिए शरीर स्थूल नहीं है बल्कि एक प्रक्रिया है, वैसे ही समाज या देश कोई स्थूल चीज नहीं है, वह भी प्रक्रिया है। प्रक्रिया; शरीर व समाज अथवा देश के विभिन्न अंगों की क्रियाओं का समावेशी रूप है। यहां अविद्या, वस्तु और सेवाओं के उत्पादन की प्रक्रिया का समावेशी रूप देख पाने के ज्ञान का अभाव है। विद्या समावेशी रूप को देख पाने का ज्ञान है। जिसका आधार शब्द से ज्यादा समझ होती है। ईश्वरवाद में शब्द का प्रमाण शास्त्र है जबकि भौतिक बुद्धिवाद में समझ का आधार अनुभव है। चार्वाक ने पांच ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष जो प्रत्यक्ष हो सके, उसे ही प्रमाण माना। वही तथागत बुद्ध ने पांच ज्ञानेन्द्रियों में एक और मद शामिल की, वह 'मन' है यानी अवचेतना को शामिल कर अनुभव प्रमाण को परिष्कृत किया।

मध्यकाल की स्थिति ऐसी थी जब मनुष्य के प्राकृतिक अस्तित्व को अप्राकृतिक आवरणों से ढ़का जा रहा था। ये अप्राकृतिक आवरण 'हिंदू' व 'मुसलमान' के थे; जिनके खिलाफ पूरा संत-आंदोलन मुखर हो मुखालफत कर रहा था। संत जिनमें रैदास, कबीर व नानक आदि शामिल थे, ने साफ तौर पर घोषित कर दिया था, हिंदू कहो तो मैं नहीं, मुसलमान भी ना ही।' इससे भी आगे बढ़कर संतों ने तो अविद्यापूर्ण धार्मिक व्यवस्था के आधारों को 'ईश्वर राम' व 'खुदा' को ही सिरे से खारिज कर दिया, '*सुन सहज में दोऊ त्यागै, राम न कहू खुदाई*'। यहां दिए 'सहज' का क्या अर्थ है; 'सहज' है सहजता यानी प्रकृति और प्राकृतिक व्यवहार। भारतीय संदर्भ में भौतिकवाद प्रकृति और प्राकृतिक व्यवहार है, जो बुद्धिपरक समझ पर आधारित है। बेग़मपुरा इसी भौतिक बुद्धिवाद की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था का सपना है, जो मध्यकाल का लक्ष्य था, जिसे पाना अभी भी शेष है। अत: बेगमपुरा का यूटोपिया अपनी अहमियत आज भी रखता है, जिसे भारतीय संविधान की उद्देशिका के मार्फत हासिल करना है। भारतीय संविधान के उद्देश्य सामाजिक न्याय, राजनीतिक न्याय व आर्थिक न्याय के मूल्य को हासिल करने के लिए जिस मजबूत दर्शन की जरूरत है, वह दर्शन बेग़मपुरा से सिंधु घाटी सभ्यता की ओर जाते महामार्ग पर बसे सिद्ध, श्रमण, सांख्य व लोकायत जैसे महानगरों से आसानी से प्राप्त होता है। इसलिए बेग़मपुरा हमारे लिए अविस्मणीय है।

बेग़मपुरा की परिस्थिति

घोर राजनीतिक पराभाव की स्थिति में रैदास और कबीर की बानी में उफनता एक सपना है। इस सपने को सच करने के लिए उनके पास 'बेग़मपुरा' का लक्ष्य है, जो दिल्ली सल्तनत के उत्तरार्द्ध काल खंड से मुगल बादशाह बाबर के समय के बीच जन-आंदोलन में तब्दील होता अनुमानित होता है। इस दौर में बेग़मपुरा जन-आंदोलन क्यों बन रहा था। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण यह है कि आबादी में जो परिवर्तन 1000 ई. के बाद हुए उसने सामाजिक समीकरण को बदल दिया था। मोटे तौर पर यहां अघोषित रूप से तीन वर्ग नज़र आते हैं, पहला वर्ग था-शासक व प्रशासकों का, दूसरा वर्ग-किसानों का और तीसरा वर्ग-कारीगरों का था। लगातार युद्ध में लिप्त होने के कारण शासकों का खर्च काफ़ी बढ़ गया था, जिसे किसान और कारीगरों से बार-बार वसूल किया जाता था। यह टैक्स इतना ज्यादा होता था कि इसमें कई बार किसानों की आधा से ज्यादा फसल चली जाती थी। लागत निकालने के बाद किसान के पास बहुत कम फसल गुजारे के लिए बचती थी। इसी बची फसल से उन्हें कारीगरों को देना होता था। जिससे कारीगरों को प्रर्याप्त प्रतिफल नहीं मिल पाता था, साथ ही तैयार माल पर भी टैक्स लगा दिया गया। मंहगाई से किसान व कारीगरों की कमर टूट गई, और उनकी जिंदगी ग़मगीन हो गई। सुलतानों ने टैक्स वसूली की कई प्रणालियों का विकास किया था लेकिन आमतौर पर इस संबंध में दो व्यवस्था लागू थी। ऐसे क्षेत्र जहां मुस्लिम शासक या प्रशासक के अधीन सीधे शासन व्यवस्था थी वहां 'इक़्ता' नाम से टैक्स लिया जाता था। ऐसे क्षेत्र जहां मुस्लिम शासक या प्रशासक सीधे शासन व्यवस्था नहीं देख रहे थे, वहां उनके अधीन स्थानीय शासक (राजा) व प्रशासक जिनमें ब्राह्मण और राजपूत/ठाकूर जैसी जाति या वर्ण के लोग थे, किसान व कारीगरों से टैक्स वसूल करके सुलतानों को देते थे, जिसे खिराज कहा जाता था। यह भूमि-कर था, जिसे बाद में 'जजिया' टैक्स के रूप में ज्यादा पहचाना गया। उन कारणों को अभी जांचने की जरूरत है कि ब्राह्मणों पर यह टैक्स किसी शासक या प्रशासक ने क्यों नहीं लगाया, हालांकि फिरोज शाह तुगलक का शासन इसका अपवाद है। औरंगजेब तक ब्राह्मणों पर जजिया समेत कोई टैक्स नहीं लगा सका। इस विवेचन से यह अनुमान हो जाता है कि शासक व प्रशासक तथा उनके अधीन रहने वाले शासक व प्रशासकों और उनकी जाति व वर्ण के लोग जो समाज में अल्पजन थे, लेकिन मलाईदार स्थिति में थे, यदि ऐसा नहीं था तब भी वे समाज के बहुजन के मुकाबले ज्यादा अच्छी स्थिति में थे। किसी गांव का सामान्य मुखिया भी

बेहतरीन घोड़ा, नौकर-चाकर, धन-धान्य से भरपूर था, जबकि समाज के बहुजन की स्थिति बेहद ग़मगीन थी। समाज व्यवस्था व राज व्यवस्था के लिए सोचने-समझने वाले और रणनीति बनाने वाले लोगों की पहचान के तीन सामाजिक समीकरण यहां बनते हैं, पहला, 'इस्लामिक चिंतक', दूसरा 'वैदिक चिंतक' और तीसरा 'ग़ैर-इस्लामिक और ग़ैर-वैदिक चिंतक'। यहां सूफियों को इसलिए अभी अलग रखते हैं, क्योंकि इस्लामिक कट्टरता के कारण वे खुले स्वर में अपनी बात को नहीं रख पा रहे थे। संत रैदास और संत कबीर आदि ग़ैर-इस्लामिक और ग़ैर-वैदिक चिंतक थे। ऐतिहासिक रूप से समझा जाए तो रैदास व कबीर प्राकृतिक भौतिकवाद के बुद्धिवादी चिंतक थे। इस चिंतन परंपरा के चिंतकों ने देखा कि समाज में इस्लाम और वेद के समर्थक समाज में अल्पजन है जिनका जीवन साधन सम्पन्न और सुखपूर्ण है, वहीं बुद्धिवादी चिंतन के समर्थक समाज के बहुजन का जीवन ग़मगीन है, इसलिए उन्होंने इस बारे में सामाजिक व राजनीतिक स्थिति के विरुद्ध अपने संघर्ष का लक्ष्य तय किया। जिसकी घोषणा 'बेग़मपुरा शहर' और बेग़म देश' के रूप में की गई। ग़मगीन समाज को रैदास व कबीर जैसे संत बेग़म समाज व्यवस्था में बदलना चाहते थे।

बेग़म समाज की अवधारणा अति-प्राचीन

मध्यकाल के भारत में बेग़म-मनुष्य और बेग़म-समाज के लिए चिंतन की परंपरा का होना कोई नई बात नहीं थी। प्राचीन भारत में भौतिक-बुद्धिवाद की दार्शनिक परंपरा थी। इस चिंतन परंपरा से जो चेतना बनी थी उसके केंद्र में मनुष्य का 'सुखी-जीवन' यानी 'दुख मुक्त जीवन' है। सिंधु घाटी की सभ्यता में इसके स्पष्ट चिन्ह पाए गए। सन् 1921 में पुरातत्त्ववेत्ता जान मॉशल ने कहा है कि इसके वाशिदे इबादत नहीं करते थे, यहां इबादत करने का कोई सबूत नहीं मिला। न तो पूजा स्थल और न ही ऐसी कोई चीज जिससे अनुमान लगाए कि सिंधु सभ्यता में ईश्वर की अवधारणा थी। अपने दौर की पांच में से केवल एक सभ्यता ईश्वरवाद से मुक्त थी, वह थी सिंधु घाटी सभ्यता। इसका कारण यह था कि भारत की मिट्टी ने जिस बुद्धिवादी मनुष्य को जन्म दिया था, वह संभव्यतः शुरू से ही तथ्यों के आधार पर 'अनुभव' को प्रमाण मानता आया था। यदि यह तथ्य सही है कि सिंधु घाटी के लोगों का अन्य ईश्वरवादी सभ्यताओं से व्यापारिक लेनदेन था, तो यह तथ्य अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि वे ईश्वर की अवधारणा से अपरिचित नहीं थे। चार्वाक जिनकी प्राचीनता की तिथि का अनुमान नहीं लगाया जा सका है, पांच ज्ञानेंद्रियों से अनुभूत चीजों को प्रमाण मानते थे। इसलिए ईश्वर का विचार उसके शब्दकोश में जगह नहीं बना सका। कपिलमुनी ने सांख्य दर्शन में ईश्वर को अपने पास फटकने भी नहीं दिया। बुद्ध सहित सभी समणों (श्रमण) ने ईश्वरवाद को सिरे से खारिज कर दिया। भौतिक-बुद्धिवादी चिंतन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने मनुष्य के 'सुख' और 'दुख मुक्त जीवन' पर खुद को केंद्रित करके रखा। यही परंपरा मंत्रयान, वज्रयान से होती हुई सहजयान के रूप में संतों तक पहुंची। सहजयान के अंतिम पड़ाव में संत दिखाई देते हैं। संत शब्द कोई नया शब्द नहीं था, त्रिपिटक में भी यह भौतिक-बुद्धिवादी परंपरा का ही अभिन्न हिस्सा है।

यहां यह गौरतलब बात है कि गौतम बुद्ध ने '*सभी दुखों का कारण अविद्या*' को कहा। संत रैदास ने तो अपने समय में इस सवाल को पूरे जोर-शोर से उठाया कि '*अविद्या हित किन्हा, मैंने नाम न किसी का लिना।*' (*बताइए अविद्या में किसका हित है, मैं किसी का नाम नहीं ले रहा हूं, इसलिए आप बताइए।*) महामना जोतिबा फुले तो सभी दुर्गति का एकमात्र कारण *अविद्या* को ही कहते हैं। इस चिंतन परंपरा में मनुष्य के जीवन के दुख का मुख्य कारण अविद्या को माना है। ये अपने युग के प्रतिनिधि स्वर है, इनमें आवश्यक एकता है। चार्वाक से लेकर जोतिबा तक 'ईश्वर' इनका चिंतन है ही नहीं।

ईश्वरवादी चिंतन दुनियाभर में अल्पजन अभिजात वर्ग के हित में खड़ा नजर आता है। ईश्वरवाद समाज के बहुजन को साधनहीन करके खैरात तो दे सकता है लेकिन खैरियत नहीं दे सकता है, विद्या नहीं दे सकता। ईश्वरवादी ने बहुजन को रोटी, कपड़ा और मकान का मोहताज बनाकर मुरादों का मुरीद बना दिया है। आर्थिक विषमता की खाई ईश्वरवाद इतनी चौड़ी कर देता है जिसे पाटना मुश्किल हो जाता है।

भौतिक बुद्धिवादी और ईश्वरवादी इन दोनों चिंतन धारा में से आज किस धारा के साथ हम खड़े हो सकते हैं। पहली चिंतन धारा भौतिक-बुद्धिवाद भारत की मूल विचारधारा है, इस मिट्टी से जन्मी है, इस देश का स्वभाव है; जो इंसान को जाति या धर्म से नहीं उसकी मूल संरचना से पहचाती है। इसी रूप में उसके अधिकारों पर बात करती है। वहीं सभी तरह की ईश्वरवादी चिंतन धाराएं भारत के बाहर से आई हैं और समाज के बहुजन के पक्ष में न बोलकर अल्पजन अभिजात के हित में काम करती है। भारत में ईश्वरवाद ने हम भारतीयों का साम्प्रदायिक विभाजन कर दिया है। जिससे हम भारतीयों की शक्ति विभिन्न साम्प्रदायिक समूह में बंट गई है।

सम्प्रदायों में बंटी भारत की जनता किसी एक विचारधारा की समर्थक हो

सकती है लेकिन अनुयायी नहीं। समर्थक और अनुयायी में मोटा अंतर यह है कि समर्थक आम आदमी होता है जो सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जो बात उसे प्रिय लगती है, और जो बात वह बार-बार सुनता है, उसका समर्थक हो जाता है, वह विचारधारा के मूल पाठ को नहीं पढ़ता और न ही उसमें उसकी रूचि होती है। उसकी रूचि समाज के हित में कोई न कोई काम करके अपना योगदान देने में होती है। यही उसकी मुख्य चिंता होती है।

अनुयायी की मुख्य चिंता होती है कि वह ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपनी विचारधारा का समर्थक बनाए ताकि वह और उसकी विचारधारा मजबूती से देश में लागू हो जाए और वह लोगों के दिलो-दिमाग पर शासन कर सके। अज्ञान और अनुमान के आधार पर अपना पाठ तैयार करता है, व्यक्ति को डराकर या ललचाकर अपना समर्थक बनाता है। वह अपने दर्शन का अध्येता होता है।

समर्थक समाज में बहुजन है और अनुयायी अल्पजन हैं।

अनुयायी द्वारा अपने सम्प्रदायों के लिएं ज्यादा से ज्यादा समर्थक जुटाने की मुहिम में दो भिन्न विचारधारा के अनुयायी अपने समर्थकों के साथ एक-दूसरे से युद्ध जैसी स्थिति में रहते हैं, मौका मिलते ही एक-दूसरे को जिंदा निगल जाने के मौके ढूंढते हैं। सम्प्रदायों में लोगों की यह घेराबंदी सभी प्रकार के ईश्वरवादी करते हैं। एक घेराबंदी (संप्रदाय) के लोग दूसरे घेराबंदी (संप्रदाय) के लोगों के मित्र कम शत्रु अधिक होते हैं। उन्हें इस अवस्था में पहुंचाने वाले दो या दो से अधिक विचारधारा के अनुयायी होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि शत्रुता की भावना पल्लवित करने वाले अनुयायी ईश्वरवादी हैं, बेशक उनके संप्रदाय एक नहीं हैं।

भारत का अपना, स्वयं का, ईश्वर की अवधारणा से मुक्त, भौतिक बुद्धिवाद, इंसान को घेराबंदी में, बंदी, नहीं देखना चाहता है। बंदी व्यक्ति डरा-सहमा रहेगा, ईश्वरवाद के विभिन्न प्रकारों के समर्थक डरे-सहमे रहते हुए अपनी जिंदगी काटते हैं। कहीं हमारे साथ बुरा न हो जाए, यह अंदेशा उनकी जिंदगी को डर से मुक्त ही नहीं होना देता है, वे विचारधारा के अनुयायियों की घेराबंदी (सम्प्रदाय) में बंदी-का-सा जीवन जीने के लिए अभिशप्त होते हैं।

रैदास का 'बेग़मपुरा' और कबीर का 'बेग़म देश' हर तरह की घेराबंदी को तोड़ते हुए, जब वे साफ-साफ लहजे में समझा देता है कि 'न मैं हिंदू न मुसलमान' या 'हिंदू कहो तो मैं नहीं मुसलमान भी ना ही' प्राचीन भौतिक बुद्धिवाद की मध्यकालीन संत-रूप उपस्थिति पूरी तरह से साम्प्रदायिक घेराबंदी की खिलाफत कर रही थी, और अल्पजन अनुयायियों की घेराबंदी में बंदी बहुजन की मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा था।

घेराबंदी के बंदियों की आजादी का यह संघर्ष अपनी प्रकृति में प्राचीन काल से ही दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक था। समर्थकों की ग़मगीन जिंदगी में मध्यकाल के भौतिक बुद्धिवादी चिंतक खुद को 'जन रैदास' और 'जन कबीर' कह रहे थे, जनता के लिए ग़मगीन दुनिया से अलग बेग़म दुनिया को सजाने का यूटोपिया एक लक्ष्य के रूप में दे रहे थे।

ईश्वरवादी विचारधारा के अनुयायियों का सारा बल इस बात पर था कि वे समर्थकों को मुरीद बनाकर रखे। जन रैदास और जन कबीर का सारा ध्यान इंसान में 'विमल विवेक' जगाने पर था, न कि अपना या अपनी विचारधारा का मुरीद बनाना। विमल का अर्थ शुद्ध और बौद्ध धम्म में यह आदर्श अवस्था थी, जिसे हासिल करने का आग्रह किया जाता था। विवेक का अर्थ बुद्धि तो पद बनता है, शुद्ध-बुद्धि या शुद्ध-बुद्ध अपभ्रंश की वजह से उच्चारण हुआ 'सुधबुध'। ईश्वरवाद की जमीन पर बेसुधबुध व्यक्ति आदर्श के रूप में खड़ा किया गया जो मूर्ति को मूर्ति के रूप में और इंसान को इंसान के रूप में पहचानने की सुधबुध खो चुका था; दूसरी तरफ, भौतिक बुद्धिवाद का आदर्श 'विमल विवेक' अथवा 'सुधबुध' वाला व्यक्ति है। रैदास कबीर की विचारधारा विद्या की बात पहले करती है। बिना विद्या के सुधबुध वाला इंसान बनाना मुश्किल है। सुधबुधवान व्यक्ति ही ग़मगीन समाज को बेग़म समाज में बदल सकता है। बहुजन साहित्य में असामाजिक तत्त्वों (जो अल्पजन होते हैं) को छोड़कर सभी के हित की बात करते हैं। यहां संत रैदास यह कहकर कि 'अविद्या हित किन्हा, मैंने नाम न किसी का लेना' अपने आपको पुराने समय से चली आ रही बुद्धिवादी ज्ञान परंपरा से संबद्ध कर देते हैं और बेसुध बुध करने वाली ईश्वरवादी धारा पर सवालिया निशान लगाते हैं। संयोग से जोतिबा फुले भी सामाजिक रंज का कारण अविद्या को ही मानते हैं। भौतिक बुद्धिवाद के सभी चिंतक व दार्शनिक अलग-अलग समय में युगीन जरूरतों के अनुसार दर्शन को परिष्कृत करके दुख, ग़म और रंज से मुक्त दुनिया के सपने पर कार्यवाही को आगे बढ़ाते नज़र आते हैं।

बेग़मपुरा एक यूटोपिया है

हम इस बारे में जागरूक हैं कि 'बेग़मपुरा' और 'बेग़म देश' यूटोपिया है। सवाल यह है कि यूटोपिया होता क्या है और यूटोपिया की अवधारणा का उपयोग कौन करता है। इसका जवाब हो सकता है-आबादी का वह हिस्सा जिसकी सामाजिक और राजनैतिक प्रतिष्ठा का ह्रास हो गया हो, उस समाज का विचारक सामाजिक व

राजनीतिक प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष हेतु जो एक लक्ष्य अथवा एक सपना देता है, उसे यूटोपिया कहा जाता है परंतु शर्त यह है कि इसमें वर्तमान के कठिन और दुखदायी जीवन के स्थान पर लक्षित भविष्य के सरल और सुखी प्रतिष्ठापूर्ण जीवन को प्राप्त करने का पक्का भरोसा हो। यूटोपिया ऐसी अभिप्रेरणा है जो व्यक्ति को उन कार्यवाहियों को करने के लिए उकसाती है, जिसके करने से सामाजिक व राजनैतिक गरिमा का जीवन प्राप्त होगा।

ये माना जाता है कि सर थॉमस मोर की सन् 1516 में प्रकाशित पुस्तक *'ऑफ द बैस्ट स्टेट ऑफ ए रिपब्लिक एंड द न्यू आइलैंड यूटोपिया'* में यूटोपिया की कल्पना ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। मार्क्सवादी संदर्भ में यूटोपिया की अवधारणा को नकारात्मक भाव में ग्रहण किया जाता है। जे एस मिल ने सन् 1868 में *यूटोपिया* (नजवचपं) का विलोम शब्द गढ़ लिया जिसे उन्होंने *'डिस्टोपिया'* (कलेजवचपं) कहा था। *डिस्टोपिया* काल्पनिक 'बुरी जगह' के लिए प्रयुक्त किया गया और यूटोपिया को काल्पनिक 'अच्छी जगह' के लिये।

तथागत बुद्ध का दिया अष्टांगिक मार्ग (उपाय) भी भविष्य के समाज की परिकल्पना थी। भारत के संविधान की उद्देशिका में भी भावी भारत का समाज मौजूद है। एक सार्थक संघर्ष के लिए चिंतन और प्रयासों की लंबी श्रृंखला मजबूत पक्षधरता को जन्म देती है। बेग़मपुरा के सहारे पुर्खों के संघर्ष हमारे होसलों को कमजोर पड़ने से बचाते हैं, बचाएंगे।

भारत में सीधे तौर पर यूटोपिया की कोई अवधारण नहीं है और न ही अनुवाद के लिए कोई वैकल्पिक शब्द है। जो शब्द गढ़े जा रहे हैं, वे सटीक शब्दार्थ के परीक्षण से गुजर रहे हैं। हिंदी भाषा की दुनिया में जो विमर्श चल रहा है, वहां सामान्य रूप से मान लिया गया है कि भारत में तुलसीदास का *मानस* की कल्पना में सबसे पहले *'रामराज्य'* का यूटोपिया मिलता है। समय-समय पर साहित्यिक पत्रिकाओं में इसका जिक्र होता रहता है।

गेल ऑमवेट ने अपनी पुस्तक *सिकिंग बेग़मपुराः द सोशल विज़न ऑव एंटीकास्ट इनटलुकचल्स'* से इस बहस में दखल दिया, वे लिखती हैं कि भारत में पहली बार संत रैदास ने 'बेग़मपुरा' का यूटोपिया दिया था।

हम यह देखते है कि संत कबीर जैसे महान आंदोलनकारी चिंतक ने भी कहा है-*'अवधु बेगम देश हमार'*। कबीर तो यहां तक कहते है कि 'हंसा बेगम री गम कर रे, विगत करो बेगम में रेवो, जन्म मरण नहीं डर रे।।' (जीवित प्राणी बेग़म की ग़म (चिंता-फिक्र) कर ले, अभी, 'जो और जैसे' तेरा जीवन चल रहा है, उसे भूल जा; अब बेग़म देश में ही रह यानी रात-दिन बेग़म देश को हासिल करने की धुन में लग जा। जीने-मरने की चिंता छोड़ दे)। प्रो. शुकदेव सिंह द्वारा संपादित 'रैदास बानी' जो राधाकृष्ण से प्रकाशित हुई है, में पद सं. 4 में संत रैदास की बेग़मपुरा की अवधारणा देखी जा सकती है।

'अब हम खूब वतन घर पाया,
ऊंचा खेर सदा मन भाया
बेगमपुरा सहर का नाऊं
दुःख अंदेस नहीं तिहिं ठाऊं
ना तसबीस, खिराजु न मालू
खौफ न खता न तरसु जवालु
काइमु दाइमु सदा पातिसाही
दाम न साम एक सा आही
आवादानु सदा मसहूर
ऊहां गनी बसहिं मामूर
तिउं-तिउं सैर करहिं जिउ भावै
हरम महल मोहिं अटकावै
कह रैदास खलास चमारा
जो उस सहर सों मीत हमारा'

इस बानी में संत रैदास कहते हैं कि अब हमने वतन में बखूबी अपना घर पा लिया है, यह इतनी ऊंचाई पर स्थित है कि यहां किसी विपत्ति का कोई डर नहीं, यहां जो खैरियत की स्थिति है, वह मेरे मन को भाती है। इस जगह का नाम 'बेग़मपुरा है। दुख और लुट-पिट जाने के अंदेशें के लिए यहां कोई जगह नहीं है। भूमि-कर या माल पर कर के लिए बार-बार के बुलावे भी नहीं हैं। वैसी कोई बात भी नहीं कि खौफ़ में रहा जाए, न ही इस डर में रहे कि कहीं गलती हो जाए, न यहां किसी की जुबान कुछ कहने के लिए तरसती है। यहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। यहां ऐसी कौम का शासन है जो काम का पूरा दाम दिलाती है। चीज़ों का जो मुनासिब दाम है, वही उसकी क़ीमत है। कपट और फ़रेब से क़ीमतें तय नहीं होती हैं। बेग़मपुरा में बसने वाले लोगों का समाज को जो योगदान है, वह तो सदा से मशहूर है, लेकिन यह बात भी गौरतलब है कि यहां मर्मज्ञ (गुणी-ज्ञानी) लोग बसते हैं। इस बेग़मपुरा की सोच में मैं जहां-जहां घूमता हूं, मेरे मन को भाता है। हममें से ऐसे लोग अभी भी है, जिन्हें हरम और महलों का लालच देकर इस बेग़मपुरा तक पहुंचने से रोक दिया गया है। चाम-मांस-रक्त (च+मा+र) का मेरा शुद्ध शरीर कहता है कि जो बेग़मपुरा शहर को अपना मानता है, वही मेरा प्रिय हो सकता है।' इस पूरी कविता में शासन व प्रशासन द्वारा किये जा रहे सामाजिक व आर्थिक शोषण के विरुद्ध एक प्रस्ताव दिया गया है जिसे बेग़मपुरा का यूटोपिया कहा जाता है। मानवीय अधिकारों के हन्न के खिलाफ यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। संत रैदास की एक अन्य कविता, *'रैदास*

सुख से रहन को, केवल दो हैं ठांव। एक सुख स्वराज में, दूसरा मरघट गांव।।' सीधे-सीधे राजनैतिक संघर्ष की कथा बुन रही है। ऐसे में अगर किसी को कोई शक है कि रैदास राजनीतिक संघर्ष के नाम पर दीवालिया थे, या जब देश जल रहा था, रैदास और कबीर जैसे संत भक्ति-रस की बांसरी बजा रहे थे, तो उन्हें इन पंक्तियों पर भी गौर कर लेना चाहिए, *'पराधीनता पाप है, जान लियो रे मीत। रैदास दास पराधीन से कौन करें है प्रीत।'* और इसी बात में कहीं गहरे अर्थ भरते हुए वे दोहराते हैं, *'पराध ीन का दीन क्या, पराधीन बेदीन। रैदास दास पराधीन को सबही समझै हीन।'* डॉ. आंबेडकर के 'स्टेट एंड माइनॉरिटी' को यदि ठीक से पढ़े, जहां निजीकरण को लोगों की पराध ीनता और पराधीनता को गुलामी सिद्ध किया गया है, वहां डॉ. आंबेडकर राजनीतिक ताकत के लिए सामाजिक व आर्थिक जीवन के पुनर्गठन की कोशिश करते नजर आते हैं। रैदास अन्य संतों के साथ उस संघर्ष का हिस्सा हैं जो अपनी पराधीनता को स्वाधीनता में बदल देना चाहता है। राजनैतिक अधिकारों के प्रति सुदृढ़ चेतना पूना पैक्ट से पूर्व डॉ. आंबेडकर-गांधी संवाद में भी साफ झलकती है, जब डॉ. आंबेडकर गांध ी से पूछते हैं कि मिस. गांधी मुझे यह बताइए कि मेरा देश कहां है। क्या यह मेरा देश है, जहां मेरे कोई हक और अधिकार नहीं हैं। यही बात मध्यकाल के कबीर कहते हैं, *'रहना नहीं देश बीराना'*। इस सारी विवेचना में यह साफ होता है कि भौतिक बुद्धिवादियों हाथ से राजनीति की कुंजी छिन जाने से उसके लिए प्रगति के द्वार पर लगे सारे ताले बंद हो गये, अगर हम पहचान पाते हैं तो दिखाई पड़ेगा कि राजनीति की कुंजी हासिल करने का संघर्ष 'बेग़मपुरा' में शब्द-दर-शब्द दर्ज है।

यूटोपिया क्यों जरूरी है/विचार की सत्ता

यूटोपिया एक ऐसी चीज है जो हवा में खड़ा एक महल की तरह नज़र आता है। हवा में महल नहीं खड़े होते हैं। यह पूरा सच नहीं है। कल्पनाओं में इमारत बनती हैं, योजना नक्शे के रूप में काग़ज़ पर दिखाई देती है और भविष्य में सार्थक सच्चाई बनकर इमारते नजर आती हैं। भविष्य की ज़मीन पर बसे बेग़मपुरा शहर के सुंदर व सुखी सामाजिक जीवन तक कैसे पहुंचा जाए? यह एक जटिल प्रश्न है। इस जटिल प्रश्न का अगर कोई हल है तो वह है, हमें एक रोड-मैप चाहिए, जिसकी मदद से हमारी वहां तक की यात्रा सम्पन्न हो जाए। दर्शन वह रोड-मैप है, जो बेग़मपुरा तक पहुंचने का रास्ता दिखाता है। साहित्य वह चीज है जो रोड-मैप के अनुसार रोड का निर्माण करता है। साहित्य के पास अगर दर्शन नहीं है, तब वह मार्ग नहीं बना सकता। यह अलग बात है कि वह पूरी मेहनत से तशले में भरकर रोड़ियों को दोपहर से पहले बीस फुट दूर ढेरी बना दे और फिर दोपहर बाद उन्हीं रोड़ियों को वापस जहां से उठाई थी वहीं पर डाल दे। वे लोग जो नक्शा नहीं रखते, वे इससे ज्यादा नहीं जानते है कि वे काम कर रहे हैं। वे नहीं जानते हैं कि वे क्या बना रहे हैं, कैसे बना रहे हैं और क्यों बना रहे हैं। ये सवाल उनके लिए बेफालतू के होते हैं। दर्शन वह नक्शा है, जो भावी योजना को साकार रूप में देखने का हुनर देता है। दर्शन को जानने वाला क्या, क्यों और कैसे का जवाब दे सकता है और किसी सोच को सच साबित कर सकता है।

साहित्य के पात्र दर्शन की मान्यताओं (सिद्धांतों) को व्यवहारिक जमा पहनाते हैं। किसी नाटक/कहानी के पात्र के सुख-दुख, उनकी विपत्तियां और दर्शन की मान्यताओं के अनुसार उसके संघर्ष की दिशा, इसके बाद सफलता, ये सभी घटनाक्रम पाठक/दर्शक का मानस बनाते हैं। मन ही मानस है। मानस सीखे-सिखाए पाठ व शिक्षाओं के साथ खुद के अनुभवों से तैयार शरीर का ओपरेटिंग सॉफ्टवेयर है। मानस का निर्णय मानव-शरीर के द्वारा कार्यवाही करने से पहले होता है। मानव-शरीर कभी भी मानस के आदेश के बिना काम नहीं करता है। अगर किसी कथा में दिए दर्शन की यह मान्यता है कि जीव हत्या पाप है और मन में सुरक्षित रखी हुई है, तब मन इस दिशा में शरीर को पशु-वध के लिए कोई आदेश नहीं दे सकता। मन के आदेश के बिना मनुष्य का शरीर हिंसा नहीं कर सकता। कसाई का पेशा अपनाए व्यक्ति के लिए दर्शन में पशुओं की कुर्बानी के नाम पर पशु-वध की मान्यता है, या जनता के भोजन के लिए पशु-वध पाप नहीं पुण्य है, जैसी मान्यता है तो कसाई का मन उसे पशु-वध का आदेश देगा और शरीर पशु वध कर देगा। किसी व्यक्ति का भले ही कसाई का पुश्तैनी पेशा है उसे भी अपने लड़के से यह काम करवाने के लिए सहमत करते समय कहानी सुनाने की जरूरत पड़ेगी। कहानी साहित्य से आएगी, साहित्य दर्शन की मान्यताओं के अनुसार काम करेगा। समाज का व्यवहार, व्यक्ति के व्यवहार के साथ-साथ बदलता है। बेग़मपुरा तक पहुंचने के लिए या जिस प्रकार का हमें समाज चाहिए वैसा हासिल करने के लिए दर्शन की मान्यताएं यदि हमारे पास नहीं हैं, तब तो साहित्य में साहित्यकार बिना नक्शे के काम करने वाले मजदूरों से ज्यादा

क्या कर पाएंगे। बेग़मपुरा तक उनका पहुंचना नामुमकिन हो जाएगा।

दूसरे शब्दों में, दर्शन के सिद्धांत आमजन/बहुजन की समझ से परे होते हैं। चंद बुद्धिमान लोग दर्शन के सिद्धांत को समझते हैं, आमजन/बहुजन नहीं। किसी दर्शन के सिद्धांत में जो कल्पना होती है, उसे साकार धरातल आमजन/बहुजन ही दे सकते हैं। दर्शन के सिद्धांत को जब आमजन/बहुजन समझ ही नहीं सकते, तो वे उसपर कार्य कैसे करेंगे। इस कैसे को बताता है, वह बुद्धिजीवी जो किसी दर्शन का अनुयायी है और साहित्य रचता है अर्थात कहानी, उपन्यास, नाटक, फिल्म, गीत, गजल या कविता लिखता है। वह अपनी साहित्यिक कृति में ऐसा चरित्र गढता है जो पुराने सिद्धांत के 'सामाजिक दुख' के विरुद्ध खड़ा होता है, और वैकल्पिक सिद्धांत के 'सामाजिक सुख' के लिए संघर्ष करता है। किसी कहानी/नाटक का चरित्र सीधे तौर पर सिद्धांत पर बात नहीं करता है, बल्कि सिद्धांत में समाये सपने पर बात करता है, उसे सच साबित करने के लिए मर-मिटने के लिए तैयार रहता है। कहानी/नाटक का चरित्र पाठक/दर्शक के मानस में नई इबाहत का मुरीद तैयार कर देता है। संगीतमय गीतों के सहारे 'बेग़मपुरा' की यात्रा में यदि आमजन/बहुजन का सफर राह के कांटो की परवाह करने की बजाय मंजिल की परवाह करता है। इस अनुक्रम में यूटोपिया यथार्थ बनता चलता है।

दार्शनिक युद्ध शब्दों के सहारे

बहुजनों के आंदोलन ने पिछले दिनों संस्कृति शब्द को नकार दिया। तर्क दिया गया कि अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द का सही अर्थ 'कलाचार' है। यह शब्द भारत की प्राचीनतम भाषा तमिल से लिया गया। साथ ही 'संस्कृति' के स्थान पर 'कलाचार' को रखने का औचित्य भी बताया।

भौतिक-बुद्धिवाद से अलग ईश्वरवादी चिंतन परंपरा ने ईसा पूर्व पालि व प्राकृत जैसे भाषा के सहज प्रवाह को बांधित करके नियमों के दायरे में बांधकर पालि की सहज शब्दावली को कलिष्ट (जटिल) करके बहुजन से काटकर अल्पजन की भाषा संस्कृत बना दिया था। संस्कृत भाषा में जो साहित्य अल्पजन ब्राह्मणों ने लिखा वह अल्पजन के हितों का पोषण करता था और बहुजन के हितों पर आघात करता था।

संस्कृत साहित्य ने जैसे चरित्र को नाटकों में प्रस्तुत किया, उसका आदर्श वे समाज में खड़ा करने में लग गए। वे महिला, पुरुषों और बच्चों के साथ अलग-अलग कामों में लगे लोगों पर अपने मत की मान्यताओं को आरोपित करने के लिए अपने साहित्य के दृष्टांत देने लगे। इस तरह संस्कृत साहित्य के चरित्र को समाज में तैयार करते हुए उसकी प्रशंसा में गुणगान करते हुए उसे सुसंस्कृत कहने लगे।

ब्राह्मणों ने अपनी दार्शनिक मत-मान्यताओं के अनुसार शास्त्र व साहित्य का सर्जन किया। उन्होंने उन लोगों की सुसंस्कृत कहकर प्रशंसा की जिन्होंने अपना व्यवहार संस्कृत में लिखे शास्त्र व साहित्य के अनुरूप कर लिया। जाति व वर्ण की मान्यताएं संस्कृत शास्त्र व साहित्य से उत्पन्न हैं। महाभारत जैसे संस्कृत साहित्य के दो चरित्र युधिष्टर और कर्ण में से कौन-सा चरित्र सुसंस्कृत व्यक्ति था। निश्चित रूप से युधिष्टर जिसका आचरण संस्कृत शास्त्र के अनुसार होने के कारण सुसंस्कृत है। युधिष्टर ही आदर्श है। यहां ध्यान इस बात पर जाता है कि 'सुसंस्कृत' एक शब्द नहीं है बल्कि एक दार्शनिक हथियार है। समाज का बहुत-सा व्यवहार इस साहित्य ने तय किया है, शायद ही कोई इस बात से असहमत होगा।

संस्कृत साहित्य ने 'गंगा नदी' को 'गंगा मां' कहकर वह जो नहीं थी, उसे कहा, यानी अविद्या (अज्ञानता) देनी शुरू की। इसी अज्ञानता से जो सामाजिक परिवेश और मानस तैयार हुआ, उसे संस्कृति कहा जाता है।

'कलाचार' शब्द मूलतः भारतीय है, और समाज में बहुजन कमेरों के काम से जुड़ा है। लुहार, सुनार, मोची, कुम्हार, किसान आदि का काम एक कला है, व्यापारी का व्यापार एक कला है। खाना परोशना एक कला है। भोजन बनाना कला है। अतिथियों का सत्कार एक कला है। पालि ने कलाचार सिखाया है। यह सहअस्तित्व की कला है। मुक्ति के आंदोलन में संस्कृति शब्द संकीर्ण है, कलाचार व्यापक शब्द है।

संस्कृति में प्रभुत्वशाली शब्द है-'आस्तिक' यानी 'निर्भर', अंग्रेज़ी में जिसे डिपेन्डेंसी कहा जाता है। हिंदी में इसके लिए 'पराधीनता' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है जो स्वाधीनता का विलोम शब्द है। प्रश्न है- 'आस्तिक किसका?' उत्तर है- 'ईश्वर का।' इसके बाद मनुष्य का जीवन का, परम ध्येय ईश्वर को प्रसन्न रखना, तय कर दिया गया। ईश्वर प्रसन्न कैसे होंगे, इसकी विधि सबको नहीं बताई गई, क्योंकि ईश्वरवादियों ने इसे गुप्त रखा। बहुजन अल्पजन को इसलिए धन दे रहा है ताकि ईश्वर नाराज न हो जाए। इस व्यवस्था से अल्पजन विचारधारा के अनुयायी लाभ की स्थिति में हैं, लेकिन बहुजन पूरी तरह से घाटे में है।

भौतिक बुद्धिवादी आस्तिक नहीं है। वे क्योंकि आस्तिक नहीं; इसलिए आस्तिकों ने उसे नास्तिक कहा। यह

ठीक वैसी ही बात हुई कि चौथी संगीति के बाद कुछ लोगों ने खुद को 'महायानी' कहा तो दूसरों को 'हीनयानी' कहा। 'हीनयानी' कहना, महायानियों की शब्दावली है, लेकिन जिन्हें हीनयानी कहा जाता है, क्या वे भी खुद को हीनयानी कहते हैं? नहीं! वे खुद को थेरावादी कहते हैं। जो आस्तिक नहीं है, वह नास्तिक होगा, यह कोई जरूरी बात नहीं। वास्तव में जिन्हें नास्तिक कहा जाता है, उनके लिए सही शब्द स्वास्तिक है। नास्तिक का मतलब है किसी का आस्तिक नहीं और स्वास्तिक का मतलब है, स्वयं का 'आस्तिक' यानी 'आत्मनिर्भर'। नास्तिक को अंग्रेजी में इंडेपेन्डेंट कहेंगे और स्वास्तिक को सेल्फडिपेन्डेंट। सेल्फडिपेन्डेंट को हिंदी में स्वाधीन कहेंगे और यह शब्द पराधीनता का विलोम शब्द है। भौतिक बुद्धिवाद की धारा में गौतम बुद्ध कहते हैं कि 'अत्ता हि अत्तनो नाथो' यानी आप स्वयं के स्वामी स्वयं हैं, दूसरे शब्दों में आप खुद प्रभुतासम्पन्न हैं, आपका प्रभु कोई नहीं है। 'अत्त दीपो भव' यानी अपने दीपक स्वयं बनो, दूसरे शब्दों में तुम्हारे अंदर दीया, बाती, तेल सबकुछ वैसे ही है, जैसे किसी दूसरे व्यक्ति के पास हो सकता है। अपने अंदर का दीया तुम खुद जला सकते हो, उस दीपक को जलाओ। यही बात मध्यकाल में कबीर कहते हैं कि 'अपने घट दिवा बारू रे!' यह विचार पराधीनता को जन्म नहीं देते हैं बल्कि स्वाधीनता यानी स्वास्तिकता को बढ़ाते हैं, मजबूत करते हैं। आस्तिकता; पराधीनता की अवस्था है, जो निर्भर बनाकर रखती है, जिसमें मानसिक और शारीरिक गुलामी मौजूद होती है। जो व्यक्ति स्वाधीन है, वह स्वास्तिक है यानी आत्मनिर्भर है, उसे ही आजाद इंसान कहा जा सकता है।

स्वाधीनता, स्वास्तिकता की बात करने वाले सभी महाविभूतियां ईश्वर नहीं कहलाई बल्कि उन्हें 'भगवान' कहा गया। भगवान शब्द 'ईश्वर' शब्द का पर्याय नहीं है। भगवान शब्द का अर्थ है जो मन के पांच विकारों को भगन कर देता है, वह भगवान है। भगवान कहलाने वाले महानुभवों का मकसद दुख से मुक्ति का उपाय देना है। यह शब्द जनप्रिय था, इसलिए ईश्वरवादियों ने इसे अपना लिया। 'संत' शब्द सत्य बोलने वालों के लिए था, जिसे 'भक्त' कहलाने वालों ने अपना लिया। सत्संग या संगीति शब्द को भी कीर्तन या भजन से प्रतिस्थापित कर दिया गया। दार्शनिक विजय पाने के लिए शब्दों के सहारे एक-दूसरे के साथ युद्ध चल रहा है। यहां प्रत्यक्ष युद्ध की अपेक्षा सेंधमारी का छद्मयुद्ध है।

ईश्वरवादी लोग 'आदिवासी' को 'वनवासी' कह रहे है। 'समानता' के स्थान पर 'समरसता' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जैसे उन्होंने स्वास्तिक को नास्तिक कहना शुरू किया था। ऐसा क्यों किया जा रहा है, इसका जवाब सरल नहीं है। आस्तिकों से स्वास्तिक भारत को बचाने के लिए 'संस्कृति' के स्थान पर 'कलाचार' पद का उपयोग किया जाना चाहिए। हमारी ओर से शब्दों के सहारे दार्शनिक युद्ध में भाग लेना किसी दर्शन को मिटाना या उसे गुलाम बनाकर रखना नहीं बल्कि अपने 'विमल-विवेक' की स्वाधीनता को बचाने का प्रयास है।

ईश्वरवादी दर्शनों के कारण हमारा भारत सम्प्रदाय के साथ छह हजार जातियों के टुकड़ों में बिखर गया है, जैसे सुंदर कांच का जार टूट गया हो। अल्पजनों ने अपने स्वार्थ के कारण विश्वविद्यालयों के विद्यावान विश्वगुरू भारत को अज्ञानी बनाकर छोड़ दिया है। सोने की चिड़िया कहलाने वाले वैशाली व पाटलीपुत्र जैसे महानगरों के स्थान पर भारत को 'गांवों का भारत' बनाकर छोड़ा दिया। आस्तिकों के तैंतीस करोड़ हथियारों से सजे ईश्वरों ने भारत को दरिद्रता और पराजय के सिवाय क्या दिया है। बिना हथियार वाले श्रमण गौतम और श्रमण महावीर का भारत इतना मजबूत था, जिससे लड़ने से पहले ही सिंकदर की सेना भयभीत होकर लौट गई थी।

शब्द के खेल में जिस दिन 'निर्वाण' को 'अमृत-पद' कहा, उसी दिन से भारत बुद्ध का देश न होकर बुद्दुओं का देश बन गया। आज एक तरफ आजादी का *अमृत* महोत्सव मनाया जा रहा है, वहीं सार्वजनिक क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खोलकर श्रमिकों को सेठ और साहूकारों का गुलाम बना दिया गया है।

खैर यह बहस काफी लंबी है, हम इसे यहां विराम नहीं देना चाहते हैं। इस बहस में हम सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन के साहित्यकारों का ध्यान इस ओर जरूर खींचना चाहते हैं कि साहित्य का अन्तर्मन दर्शन की मान्यताओं से निर्मित होता है, इसलिए साहित्यकार का भौतिक बुद्धिवाद की मत-मान्यता से अनभिज्ञ होना बड़ा नुकसान साबित होगा।

यह संपादकीय काफी लंबा हो गया है, इसे स्वीकारते हुए भी, यह कहा जा सकता है, विमर्श से मुक्ति के लिए और दर्शन के प्रति उत्सुकता पैदा करने लिए ही हम इस आयोजन का नियोजन कर रहे हैं।

बाकी अगले अंक में फिर मिलते हैं, उस बहस के लिए जो जरूरी हो गई है।

शीलबोधि
कार्यकारी संपादक